ट्रैक्ट नं० ९४

हम दुखी क्यों हैं ?



लेखक

श्रीयुत पंडित जुगलकिशोर मुख्तार,

(स्वामी समन्तभद्र, ग्रंथपरीक्षा, विवाहक्षेत्रप्रकाश,
जैनाचार्योंका शासनभेद, मेरी भावना, सिद्धिसोपान
आदि अनेक ग्रंथोंके रचयिता)

सरसावा, जि० सहारनपुर ।



प्रकाशक

जैन मित्र मंडल

धर्मपुरा, देहली ।



कार्तिक, वीरनिर्वाण सं० २४६०



अक्तूबर १९३३

द्वितीयावृत्ति } एक हज़ार प्रति }



{ मूल्य— { =) एक आना

धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ श्रीदिगम्बर जैन समाज रोहतक ने २०) रु० की सहायता प्रदान की है, जिसके लिये हम रोहतक की जैन समाज और खास तौर पर बा० लालचन्दजी एडवोकेट व प० उग्रसैनजी एम ए. एल. एल. बी. के आभारी हैं जिनकी प्रेरणा से यह सहायता प्राप्त हुई है।

भवदीय

उमरावसिंह मन्त्री,

जैन मित्रमण्डल देहली।



हम दुखी क्यों हैं ?

दुखभरी हालत ।

इसमें कोई सन्देह नहीं और न किसीको कुछ आपत्ति है कि आज कल हमें सुख नहीं, आराम नहीं और चैन नहीं । हमारा बेचैनी, परेशानी और घबराहट दिनपर दिन बढ़ती जाती है, तरह तरहकी चिन्ताओंने हमको घेर रक्खा है, रातदिन हम इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं कि किसी तरह हमको सुख मिले, हम सुखकी नींद सोयें, हमारे दुख-दर्द दूर हों, हमारी गर्दनसे चिन्ताओंका भार उतरे और हमारी आत्माको शांतिकी प्राप्ति हो । इसी सुख-शांतिकी खोजमें—उसकी प्राप्ति के लिये—हम देशविदेशोंमें मारे मारे फिरते हैं, जगल बियाबानोंकी खाक छानते हैं, पर्वत-पहाड़ोंसे टक्करें लेते हैं, नदी-नालों और समुद्रों तकको लाँघने या उनकी छाती पर मूँग दलनेकी कोशिश करते हैं। इसके सिवाय, दिनरात तेलीके बैलकी तरह घरके धन्धोंकी पूर्तिके पीछे ही चक्कर लगाते रहते हैं, उन्हींके जालमें फँसे रहते हैं, उनका कभी, ओड़ (अन्त) नहीं आता, उनकी पूर्ति और झूठी मान-बड़ाईके लिये धनकी चिन्ता हरदम सिरपर सवार रहती है, हरवक्त यही रट लगी रहती है कि 'हाय टका' हाय टका ! टका कैसे पैदा हो ! क्या करें, कहाँ जाँय और कैसे करें !! किसी भी तरह क्यों न हो, टका पैदा होना चाहिये, तभी काम चलेगा, तभी दुख मिटेगा'। और इसलिये हर

जायज नाजायज तरीकेसे—उचितानुचित रूपमें—हम रुपया पैदा करने के पीछे पड़े हुए हैं, उसीकी एक धुन और उसीका एक राग (पागलपन) हमारे सिरपर सवार है और उसकी सम्प्राप्तिमें इतना सलग्न रहना होता है कि हमें अपने तन-बदनकी भी पूरी सुध नहीं रहती। फिर इन बातोंको तो कौन सोचे और कौन उनपर गहरा विचार करे कि 'हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं, क्यों आए हैं, कैसे आए हैं, कहाँ जायँगे, कब जायँगे कैसे जायँगे, हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है, उसे पूरा करनेके लिये हमने कोई कार्रवाई की या नहीं, और हमें इस मनुष्य शरीरको पाकर ससारमें क्या क्या काम करने चाहियें'। इन सब बातोंको सोचने और विचारनेका हमारे पास समय ही नहीं है, हमको इतनी फुर्सत कहाँ जो इस प्रकारके विचारोंके लिये भी कुछ वक्त दे सकें या ऐसे विचारों के साहित्यको ही पढ़ सुन सकें? हमारी इधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। गरज यह कि अपने सुखकी सामग्रीको एकत्र करने अथवा जुटानेके लिये हमें रात दिन खड़ी अँगुलियों नाचना पड़ता है और पूर्ण रूपसे उसीमें सलग्न रहना होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—धन दौलत और झूठी इज्जत पैदा करनेके यत्नमें इतनी अधिक तत्परता होते हुए और उसे बहुत कुछ प्राप्त करते हुए भी—हमें सुख नहीं मिलता, शान्ति नसीब नहीं होती। चारों तरफ जिधर भी नज़र उठा कर देखते हैं दु ख ही दु ख नजर आता है—हमारे स्वजन परिजन, इष्ट मित्र, सगे सम्बन्धी, यार दोस्त, अड़ोसी पड़ोसी, नगर और देहातके प्राय सभी लोग दुखदर्द से पीड़ित हैं, हर ओरसे दुखदर्द भरी आवाजें ही सुनाई पड़ती हैं, अपना ही दुख दूर नहीं होता तब दूसरोंके दुखको मालूम करने और दूर करनेकी फिक्र कौन करे? कौन किसीपर दया अथवा रहम करे? कौन किसीकी मदद करे? और कैसे कोई किसीके दुखदर्दमें काम आवे? हर एकको अपनी अपनी पड़ी है, अपने ही मतलबसे मतलब है, अपनी स्वार्थसिद्धिके सामने

दूसरा की जान, माल, इज्जत और आवरू (प्रतिष्ठा) कोई चीज नहीं—उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। इस तरहपर और ऐसी हालतमें हमारा दुःख घटनेकी जगह उलटा दिनपर दिन बढ रहा है और हमें चैन या सुख-शांति नहीं मिलती।

धार्मिक पतन।

अब प्रश्न यह पैदा होता है। कि ऐसा क्यों हो रहा है? हमारा दुःख क्यों बढ रहा है? इसका सीधा सादा उत्तर, यद्यपि, यह दिया जा सकता है कि हममेंसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जा रहा है, उसीका यह नतीजा है कि हम दुःखी हैं और हमारा दुःख बढ रहा है। और इस उत्तरकी यथार्थता अथवा उपयुक्ततापर कोई आपत्ति भी नहीं की जासकती, क्योंकि धर्म सुखका कारण है और कारण से ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसे सब ही मतमतान्तर के लोग मानते हैं। बडे बडे ऋषियों, मुनियों और महात्माओंने धर्म को ही लोक परलोकके सभी सुखोंका कारण बतलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि यह जीवोंको संसार के दुःखोंमें निकालकर उत्तम सुखोंमें, धारण करने वाला है। और यही अकेला एक ऐसा मित्र है जो परलोकमें भी साथ जाकर इस जीवके सुखका साधन बनता है—उसे सुखकी सामग्री प्राप्त कराता है—उसीसे आत्माका अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। धर्मके स्वरूपपर विचार करनेसे भी ऐसा ही मालूम होता है—उसकी महिमा तथा शक्तिमें कुछ भी विवाद नहीं है। प्रत्युत इसके, अधर्म या पाप दुःखका कारण है, हरएक विघ्न व मुसीबतका सबब अथवा दुर्गति और विपत्तिका निदान है, और इसलिये हमारी मौजूदा दुःखमयी हालत हमारे पापी आचरणका सबूत है—बुरे कर्मों का नतीजा है—और इस बातको जाहिर करती है कि हममें धर्मका आचरण प्राय नहीं रहा।

वास्तवमें, हम धर्म-कर्ममें बहुत गिर गये हैं और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्राय पीतल या मुलम्मा मालूम होता है। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और संयम आदि की जो भी क्रियाएँ धर्मके नामसे नामांकित हैं—जिनको हम 'धर्म' कह कर पुकारते हैं—उनमें भी धर्म प्राय नहीं रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए थनोंके समान हैं†। बकरीके गलके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते हैं—उनका आकार थनों जैसा होता है—परन्तु वे थनोंका काम नहीं देते, उनसे दूध नहीं निकलता ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओंकी हो रही है। वे देखने दिखाने के लिये ही धार्मिक क्रियाएँ हैं परन्तु उनमें प्राण नहीं, जीवन नहीं, धर्मका भाव नहीं और न हम उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्राय एक दूसरेकी देखादेखी, रीतिरिवाजकी पाबन्दी अथवा रूढिका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यश कीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरेही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती हैं। उनके मूलमें प्राय अज्ञानभाव, लोकदिखावा रूढिपालन, मानकषाय और दुनियासाजीका भाव भरा रहता है, यही उनकी कूक और यही उनकी चाबी हुआ है। उन क्रियाओंको सम्यक्चारित्र नहीं कहसकते, सम्यक्चारित्रके लिये सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाजिमी है और वह लौकिक प्रयोजनोंसे रहित होता है। जो क्रियाएं सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपना आत्माय कर्तव्य समझकर, नहीं की जाता, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ हैं, मिथ्या चारित्र हैं, और अन्तमें संसारके दुःखों का कारण हैं। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे

---

† भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठस्तनाविव ॥

प्रसिद्ध होने वाली वर्तमान क्रियाओंको 'सम्यक्चारित्र' न कहकर 'यांत्रिक चारित्र' अथवा जड मशीनों जैसा आचरण कहना चाहिये। उनसे धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नहीं होतीं *।

इसके सिवाय, जिधर देखिये उधर ही हिंसा, झूठ, चोरी, लूटखसोट, मारकाट, सीनाजोरी, विश्वासघात, रिश्वत-घूस, व्यभिचार, बलात्कार, विलासप्रियता, विषयासक्ति और फूटका बाजार गर्म है, छल कपट, दंभ मायाचार, धोखा, दगा, फरेब, जालसाजी और चालबाजीका दौरदौरा है, जुआ भी कुछ कम नहीं, और सट्टेने तो लोगोंका धनमा चौरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है, लोगोंके दिलोंमें ईर्षा, द्वेष, घृणा और अदेखसका भावकी अग्नि जल रही है, आपसके वैर-विरोध, मनमुटाव और शत्रुताके भावसे सीने स्याह अथवा हृदय काले हो रहे हैं, भाई भाईमें अनबन, बाप-बेटेमें खिचावट, मित्रामित्रोंमें वैमनस्य और स्त्री पुरुषोंमें कलह है, चारों ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है, लोग क्रोध के हाथोंसे लाचार हैं, झूठे मानकी शानमें हैरान व परेशान हैं और लोभ की मात्रा तो इतनी बढ़ी हुई है तथा बढ़ती जाती है कि दयाधर्मके मानने-वाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोंको बेचने लगे हैं, उन्हें अपनी छोटीछोटी सुकुमार कन्याओंका हाथ बूढे बाबाओंको पकड़ाते हुए जरा भी संकोच नहीं होता, जरा भी तर्स या रहम नहीं आता और न उनका वज्र हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए धड़कता या काँपता है। फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो बात ही क्या है? वह तो उनके पास भी नहीं फटकती। प्रायः सभी जातियोंमें कन्याविक्रयका व्यापार बढ़ा हुआ है, खूब सौदे होते हैं, असंतोष फैल रहा है और तृष्णाकी कोई हद नहीं। लोग मंदिर-

---

* 'यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या।' —कल्याणमंदिर।

वास्तवमें, हम धर्म-कर्मसे बहुत गिर गये हैं और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्रायः पीतल या मुलम्मा मालूम होताहै। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और संयम आदि की जो भी क्रियाएँ धर्मके नामसे नामांकित हैं—जिनको हम 'धर्म' कह कर पुकारते हैं—उनमें भी धर्म प्रायः नहीं रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए थनोंके समान हैं†। बकरीके गलेके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते हैं—उनका आकार थनों जैसा होता है—परन्तु वे थनोंका काम नहीं देते, उनसे दूध नहीं निकलता ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओंकी हो रही है। वे देखने दिखानेके लिये ही धार्मिक क्रियाएँ हैं परन्तु उनमें प्राण नहीं, जीवन नहीं, धर्मका भाव नहीं और न हम उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्रायः एक दूसरेकी देखादेखी, रीतिरिवाजकी पाबन्दी अथवा रूढ़िका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यश कीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरेही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती हैं। उनके मूलमें प्रायः अज्ञानभाव, लोकदिखावा, रूढ़िपालन, मानकषाय और दुनियासाजीका भाव भरा रहता है, यही उनकी फूंक और यही उनकी चाबी कुंजी है। उन क्रियाओंको सम्यक्चारित्र नहीं कहसकते, सम्यक्चारित्रके लिये सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाज़िमी है और वह लौकिक प्रयोजनोंसे रहित होता है। जो क्रियाएँ सम्यग्ज्ञान पृथक् अथवा आत्मीय कर्तव्य समझकर, नहीं की जाती, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ हैं, मिथ्या चारित्र हैं, और अन्तमें संसारके दुःखोंका कारण हैं। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे

---

† भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठस्तनाविव॥

प्रसिद्ध होने वाली वर्तमान क्रियाओंमें 'कल्पवृक्षपने' व स्वाद 'यांत्रिक चारित्र' अथवा जड़ मशीनों जैसा आचरण घुस गया है; उनसे धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नहीं होतीं हैं।*

इसके सिवाय, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, मोह, ममता, मारकाट, मांसाहार, मद्यपान, मिथ्या-दृष्टि, छल-कपट, विलासप्रियता, विषयासक्ति और फैशनका साम्राज्य बढ़ गया है, छल कपट, दंभ मायाचार, धोखा, दगा, फरेब, अन्याय और असत्यका दौरदौरा है, जुआ भी कुछ कम नहीं, और चोरीने तो बड़ा घोरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है, लोगोंके दिलोंमें ईर्षा, द्वेष, घृणा और अदेखसकाभावकी अग्नि जल रही है, कलहके वैर-विरोध, अनबन और शत्रुताके भावसे मौन ज्याद अथवा हृदय काले हो रहे हैं, भाई भाईमें अनबन, बाप-बेटेमें खिंचावट, मित्र-मित्रमें वैमनस्य और स्त्री-पुरुषोंमें कलह है, चारों ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है, लोग कौमके हाथोंसे लाचार हैं, झूठे मानकी शानमें हैरान व परेशान हैं और लोभकी मात्रा तो इतनी बढ़ी हुई है तथा बढ़ती जाती है कि ज्यादातर माननेवाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोंको बेचने लगे हैं, उन्हें अपनी भोलीभाली सुकुमार कन्याओंका हाथ बूढ़े बाबाओंके पकड़ाते हुए जरा भी संकोच नहीं होता, जरा भी तर्स या रहम नहीं आता और न उनका दया हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए धड़कता या काँपता है। फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो बात ही क्या है? वह भी उनके पास आ नहीं फटकती। प्राय सभी जातियोंमें कन्याविक्रयका व्यापार बढ़ा हुआ है, वृद्धविवाह होते हैं, असन्तोष फैल रहा है और तृष्णाका पार हद नहीं। त्याग मंदिर

* 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।' —कल्याणमंदिर।

मूर्तियों और धार्मिक संस्थाओं तकको मारा हजम कर जाते हैं, देव-द्रव्यको खा जाने और तीर्थोंको मार उड़ा जानेमें उन्हें कोई संकोच नहीं होता। इधर झूठे मान बड़ाईके लोलुपी अथवा मिथ्या प्रतिष्ठा के उपासक, विधवाओंके गर्भ गिराकर या उनके नवजात बच्चोंको, प्रसव गुप्त रखनेके अभिप्रायसे, वन उपवन, कूप-बावड़ी नदी-सरोवर या संडास आदिमें डालकर अथवा जीता गाड़कर, गर्भपात और बाल-हत्यादिकके अपराधोंकी संख्या बढ़ा रहे हैं। और अब तो कहीं कहीं से रोंगटे खड़े करनेवाले ऐसे दुराचार भी सुननेमें आने लगे हैं कि एक प्रतिष्ठित पुरुष अपनी स्त्रीके पेटमें लड़का पैदा करनेकी धुनमें, नहीं नहीं पागलपनमें, दूसरे मनुष्यके निर्दोष बच्चेको मारकर उसके गर्म गर्म खूनमें अपनी गर्भवती स्त्री को नहलाता और खुश होता है। ओह! कितना भयंकर दृश्य है!! कितनी संगदिली अथवा हृदयकी कठोरता है!! धर्मका, श्रद्धाका, मनुष्यताका कितना दिवाला और आत्माका कितना अधिक पतन है!!! खुदगरजीकी भी हद हो गई!!! ये सब बातें धर्मके पतन और उसकी हममें अनुपस्थितिको निखर प्रकाशकी तरहसे प्रकट कर रही हैं। ऐसी हालतमें 'हममें से धर्म उठ गया' यह कहना कुछ भी अनुचित या बेजा नहीं है।

परन्तु फिर यह सवाल पैदा होता है कि धर्म क्यों उठ गया? किन कारणोंसे हम उसे छोड़ने अथवा उसकी तरफ पीठ देनेके लिये मजबूर हो रहे हैं? क्यों उसके धारण या पालन करनेमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती? और इसलिये हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है इस प्रश्नका यह उत्तर कि 'हममेंसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जाता है' ठीक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है—काफी नहीं है। इतने परसे ही हमारी संतुष्टि अथवा भरपाई नहीं होती—हमारे ध्यानमें अपने दुःखोंके कारणोंका नक्शा पूरी तौरसे नहीं बैठता—हमें स्पष्टताके साथ यह जाननेकी जरूरत है कि हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है? वास्तवमें, जो

कारण हमारे दुःखके बढ़नेका है वही हममें से धर्मके उठ जानेका है। एकके मालूम होनेपर दूसरेको मालूम करनेकी जरूरत नहीं रहती। एक सवालके अच्छी तरहसे हल हो जानेपर दूसरा खुद-ब-खुद (स्वयमेव) हल हो जाता है, और इसलिये हमे वह खास कारण मालूम करना चाहिये जिसकी वजहसे हमारा दुःख बढ़ रहा है या हम मेंसे धर्म उठ गया और उठता जाता है।

आवश्यकताओंकी वृद्धि।

जहाँ तक मैंने इस मामलेपर गौर तथा विचार किया और उसके हर पहलूपर नजर डाली, हमारे दुःखोंका प्रधान कारण सिवाय इसके और कुछ प्रतीत नहीं होता कि 'हमने अपनी जरूरियातको—आवश्यकताओंको—फिजूल बढ़ा लिया है' ऐसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणतिको बिगाड़ लिया है और दिनपर दिन उसमें और वृद्धि करते चले जाते हैं। फिजूलकी जरूरियातका बढ़ा लेना ऐसा ही है जैसा कि अपनेको जंजीरोंसे बाँधते जाना। एक हाथी पैर में जंजीरके पड़ जानेसे ही पराधीन हो जाता है—अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे घूम फिर नहीं सकता—उसको वह सुख नसीब नहीं होता जो स्वाधीनतामें मिलता था। पराधीनतामें सुख है ही नहीं। कहावत भी प्रसिद्ध है—'पराधीन सुपने सुख नाहीं'। फिर जो लोग चारों तरफ से जंजीरोंमें जकड़े हुए हों—फिजूलकी जरूरियातके बन्धनोंमें बँधे हों—उनकी पराधीनताका क्या ठिकाना है ? और उन्हें यदि सुख न मिले—शांति नसीब न हो—तो इसमें आश्चर्य तथा विस्मयकी बात ही क्या है ? व्यर्थ की जरूरियातको बढ़ा लेना वास्तवमें दुःखोंको निमन्त्रण देना ही नहीं किंतु उन्हें मोल ले लेना है।

एक मनुष्य छह सौ रुपये मासिक वेतन (तनख्वाह) पाता है और दूसरा पचास रुपये मासिक। पचास रुपये मासिक पानेवाले,

भाईकी तरक्की (वृद्धि) होकर सौ रुपये मासिक हो गये और छह सौ रुपये मासिक पानेवाले भाईकी तनज्जुली (पदच्युति) ने एकदम दो सौ रुपयेकी रकम कम कर दी, और उसकी तनख्वाह सिर्फ चार सौ रुपये मासिक रह गई। पचास रुपये पानेवाला भाई अपनी उन्नति तथा पदवृद्धिके समाचार पा कर खुश हो रहा है, आनंद मना रहा है, अंगमें फूला नहीं समाता और इष्टमित्रोंमें मिठाइयाँ बाँटता है। प्रत्युत इसके, छह सौ रुपये माहवार का तनख्वाहदार (वेतनभोगी) अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी खबर पाकर रो रहा है, झींक रहा है, दुःखितचित्त और शोकातुर हुआ सोच रहा है कि 'मुझसे कौनसी खता अथवा चूक हुई? क्या अपराध बन गया? मैंने कौनसा बिगाड़ किया, जिससे मेरा दर्जा घटा दिया गया? किसने मेरी चुगली की? किसने आफीसर (हाकिम) के सामने मेरी सच्ची झूठी बातें जाहिर कीं? हाय! मेरी तकदीर फूट गई! भाग्य उलट गया!! अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे करूँ!! बड़ा दुःख है!!!

इन दोनों भाइयोंके अन्तःकरणकी हालतको यदि ठीक तौरसे देखा जा सके, तो इसमें संदेह नहीं कि बड़ी तनख्वाहवाला दुखी और छोटी तनख्वाहवाला सुखी मिलेगा। परन्तु यह क्यों? रुपयेकी कमी बेशी ही यदि सुख दुखका कारण हो, तो बड़ी तनख्वाह वाले को, जिसको तनख्वाह घट जानेपर भी दूसरे भाईको पानेवाले भाईसे चौगुनी रहती है, ज्यादा सुखी होना चाहिये—उसके सुखकी मात्रा दूसरे से चौगुनी नहीं तो तिगुनी या दुगुनी तो जरूर होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, वह दूसरेके बराबर भी अपनेको सुखी अनुभव नहीं करता। इसकी वजह है और वह यह है कि, पचास रुपये पानेवाले भाई ने तो अपनी जरूरियातको पचास रुपयेकी बना रक्खा था—पचास रुपये के भीतर ही अपने सम्पूर्ण खर्चाको परिमित कर रक्खा था—वेतन आते ही आटा, दाल, घी, तेल नमक, मिर्च, मसाला, कपड़ा लत्ता, जेवर और

रिजर्व फंड वगैरह सब विभागोंमें वह उसका बटवारा कर देता था। अब वेतनके बढ जानेपर एकदम पचास रुपयेकी बचत होने लगी और खर्च प्राय ज्योंका त्यों रहा, इससे उसे आनंद ही आनन्द मालूम होने लगा। परन्तु छहसौ रुपयेवाले भाईकी हालत दूसरी थी—उसकी जरूरियात पचास रुपये या सौ दोसौ रुपयेकी नहीं थीं बल्कि छह सौ रुपये मासिकसे भी बढ़ी हुई थीं। उसने अपनी जाहिरी हैसियत अथवा स्थितिको छह सौ रुपयेमें भी अधिककी बना रक्खा था—नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, बाग बगीचे, फूल फुलवाड़ी, कमरेकी शोभा सजावट वगैरह सब तरहका साज सामान था, रोजाना हजामत बनती थी, तीसरे दिन पोशाक बदली जाती थी, हर साल घर भरके लिये अच्छे नये नये कपड़े सिलते थे और दोचार बार पहन कर ही रद्दी कर दिये जाते थे, मेहमानोंकी सेवा-शुश्रूषा भी खूब दिल खोल कर होती थी, घरमें मेवा, मिठाई, फल, फूल और नाना प्रकारके भोजनों की हर दम रेल पेल अथवा चहल पहल रहती थी, स्त्रियाँ देवांगनाओं जैसे वस्त्राभूषणोंसे भूषित नजर आती थीं, उनके जेवरोंकी कोई संख्या अथवा सीमा न थी, और उनके मखमल, कमख्वाब, अतलस तथा रेशम से घिरे हुए और जरी तथा सलमासितारेके कामों से जडे हुए मालूम होते थे, नाटक थियेटरका भी शौक चलता था, प्राय दो चार मित्रों को साथ लेकर और उनका भी खर्च स्वय उठा कर ही वह उन तमाशों को देखने जाया करता था, बाकी विवाह शादीके खर्चोंका तो कोई परिमाण अथवा हिसाब ही नहीं था—उनके लिये तो अक्सर कर्जे भी ले लिया जाता था और साथ ही पूर्वजोंकी पैदा की हुई सम्पत्ति (जायदाद) का भी सफाया बोल दिया जाता था। अब एकदम दोसौ रुपये मासिक की आमदनी कम हो जानेसे उसको फिक्र पड़ी और चिन्ताने आघेरा। वह सोचने लगा कि 'किसी नौकरको हटा दूँ, गाडी टमटम वगैरहमेंसे किसीको अलग कर दूँ, कमरेकी शोभा सजावट और अपने मनो-

विनोद (दिल बहलाव) का सामान कम करदूँ, मेहमानोंकी सेवाशुश्रूषा में आना कानी करने लगूं या उसमें कमी करदूँ, स्त्रियों तथा बच्चोंका पहनावा बदलदूँ या उसे कुछ घटिया करदूँ, इष्ट मित्रोंसे आँखें चुराने लगूं, नाटक-थियेटरमें जाना या वहाँ खास सीटोंका रिजर्व कराना बंद कर दूँ, खाने पीनेकी सामग्री जुटानेमें किफ़ायत और अहतियातसे काम लेने लगूं और या विवाह शादी वगैरहके खर्चोंमें कोई आदर्श कमी कर दूँ '। गरज, जिस चीज़को कम करने, घटाने या बदलने वगैरहकी बात वह सोचता है उसीमें उसके दिलको धक्का लगता है, चोट पहुँचती है, हैसियत अथवा पोज़ीशनके बिगड़ने और शान में बट्टा लग जानेका खयाली भूत सामने आकर खड़ा होजाता है, वह जिस ठाट बाट, साज सामान और आन बानसे अब तक रहता आया है, उसीमें रहना चाहता है, अभ्यासके कारण वे सब बातें उसकी आदत और प्रकृतिमें दाखिल हो गई हैं, उनमें ज़रा भी कमी या तबदीली उसे बहुतही अखरती है और इस तरह वह दुखही दुख महसूस (अनुभव) करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि अधिक धनके नशेमें जिन ज़रूरियातको फ़िजूल बढ़ा लिया था वे ही अब उसके गलेका हार बनी हुई हैं, उन्हें न तो छोड़ सकता है और न पूरा किये बनता है, दोनों पाटोंके बीच जान अजब अज़ाबमें अथवा संकटापन्न है। और इससे साफ़ ज़ाहिर है कि ज़रूरियातको फ़िजूल बढ़ा लेना अपने हाथों खुद दुःखोंको मोल ले लेना है—जो जितना ज्यादा अपनी ज़रूरियातको बढ़ाता है वह उतना ही ज्यादा अपनेको दुःखोंके जालमें फँसाता है।

दुख-सुख-विवेक।

यहाँपर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि बढ़ी हुई ज़रूरियातके पूरा न होनेमें ही दुख नहीं है बल्कि उनका पूरा करनेमें भी नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं—उनकी सामग्रीके जुटानेका फिक्र, जुटाई

अथवा एकत्र की हुई सामग्रीकी रक्षाकी चिन्ता, रक्षित सामग्रीके खोए जाने या नष्ट हो जानेका भय और फिर उसके जुदा हो जाने, गिरने पड़ने, टूटने फूटने, गलने सड़ने, बिगड़ने, मैली कुचैली, बेआब और बेकार हो जानेपर दिलकी बेचैनी, परेशानी, अफसोस, रंज, खेद और शोक, इष्ट सामग्रीके साथ अनिष्टका संयोग हो जानेपर चित्तकी व्याकुलता, घबराहट और उसके वियोगके लिये तड़प, और साथ ही इन सब के संसर्ग अथवा सम्बन्धसे नई नई चीजोंके मिलने मिलाने या दूसरे साज-सामानके जोड़नेकी इच्छा और तृष्णा। ये सब भी दुःखकी ही पर्याय हैं— उसीकी जुदागाना शक्लें अथवा विभिन्न अवस्थाएँ हैं। दुःखके विरोधी सुखका लक्षण ही निराकुलता है और वह चिंता, भय, शोक, खेद, अफसोस, रंज, बेचैनी, परेशानी, आकुलता, घबराहट, इच्छा, तृष्णा बेताबी और तड़प वगैरह दुःखकी पर्यायोंसे रहित होता है। जहाँ ये नहीं, वहाँ दुःख नहीं और जहाँ ये मौजूद हैं वहाँ सुखका नाम नहीं। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि यदि सुखकी ये पर्यायें—शक्लें और हालतें—बनी हुई हैं, तो कोई मनुष्य बाहरके बहुतसे ठाट-बाट, साज-सामान और वैभवके होते हुए भी सुखी नहीं हो सकता। उदाहरणके लिये लीजिये, एक मनुष्य को १०५ दर्जे से भी ऊपरका बुखार है और इसलिये उसकी बेचैनी और परेशानी बढ़ी हुई है, उसको रेशमकी डोरीसे बुने हुए, मखमल बिछे हुए सोने चाँदीके पलंगपर लिटा देने और ऊपरसे कमख्वाबका जरी दोज चँदोया बाँध देनेसे क्या उसके उस दुःखमें कोई कमी हो सकती है? कदापि नहीं। एक दूसरे आदमीके पास खूब धन दौलत, जमीन जायदाद, जेवर कपड़े, महल मकान, हाट दुकान, बाग बागीचे, नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, रथ बहल, सुशीला स्त्री, आज्ञाकारी बच्चे और प्रेमी भाई बहन वगैरह सब कुछ विभूति मौजूद है। आप कहेंगे कि वह बड़ा सुखी है। परन्तु उसके शरीरमें एक असाध्य रोग होगया है जो बहुत कुछ उपचार करनेपर भी दूर नहीं हो सका। उसकी वजहसे वह

बहुत ही हैरान और परेशान है, उसको किसी भी चीजमें आनन्द मालूम नहीं होता और न किसीका बोल सुहाता है, वह अलग एक चारपाईपर पड़ा रहता है, मूँगकी दालका पानी भी उसको हज़म नहीं होता—नहीं पचता—दूसरोंको नानाप्रकारके भोजन और तरह तरहकी चीजें खाते पीते देखकर वह कुढ़ता है, अपने भाग्यको कोसता है, और जब उसे संसारसे अपने जल्दी उठ जाने और उस सम्पूर्ण विभूतिके वियोगका ख्याल आ जाता है, तो उसकी वेदना और तड़पका ठिकाना नहीं रहता, वह शोकके सागरमें डूब जाता है, और तब उसकी वह सारी विभूति मिलकर भी उसे उस दुःखसे निकालनेमें ज़रा भी समर्थ नहीं होती अब एक तीसरे ऐसे शख्सको भी लीजिये जिसके पास उपर्युक्त सम्पूर्ण विभूतिके साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्यकी—तन्दुरुस्तीकी—भी खास सम्पत्ति मौजूद है और जो खूब हट्टा कट्टा, हृष्ट पुष्ट तथा बलवान् और ताक़तवर बना हुआ है। उसे तो आप जरूर कहेंगे कि वह पूरा सुखिया है। परन्तु उसके पीछे फौजदारीका एक ज़बरदस्त मुक़द्दमा लगा हुआ है, जिसकी वजहसे उसकी जान अज़ाबमें अथवा सकटापन्न है। वह रात दिन उसीके फ़िक्रमें डूबा रहता है। चलते फिरते, खाते पीते और सोते जागते उसीकी एक चिंता और उसीका एक धुन उसके सिरपर सवार है, उसकी मौजूदगीमें अपना सब ठाट बाट और साज सामान उसे फीका फीका नजर आता है, रसोईमें छत्तीस प्रकारके भोजन तय्यार हैं और स्त्री बड़ी विनय-भक्तिके साथ लघुपुत्र सहित खड़ी हुई प्रेमभरे शब्दोंमें प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ! कुछ थोडासा भोजन तो जरूर कर लीजिये' परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमें कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नहीं होता, वह बड़ी उपेक्षा—बेरुखी—अथवा झुंझलाहटके साथ उत्तर देता है कि 'तुझे भोजनकी पड़ी, यहाँ जानको बन रही है, दस बज गये, रेलका वक्त हो गया, मुकद्दमेकी पेशीपर जाना है ।।' इससे साफ़

जाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—फिक्रात वगैरहके गालिब आनेपर—बाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूति और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नहीं बना सकती—वह प्रायः दुःखोंसे ही घिरा रहता है *। अनेक कवियोंने तो चिंताको चिताके समान बतलाया है। दोनोंमें भेद भी क्या है? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है। उर्दूमें लिखिये तो चिंतापर चितासे एक नुक्ता ( ) ज्यादा आएगा और हिन्दीमें लिखनेसे एक बिन्दी अधिक लगानी होगी। परन्तु इस नुक्ते या बिन्दीने गजब ढा दिया! चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिंता जीवितको ही भस्म कर देती है!! जिस शरीररूपी वनमें यह चिंता ज्वाला दावानलकी तरहसे खेल जाती है, उसमें प्रकट रूपसे धुआ नजर न आते हुए भी भीतरही भीतर धुआँधार रहता है, काँचकी भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त मांस सब जल जाता है, सिर्फ हाड़ोंका पंजर ही पंजर चमड़ेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है। ऐसी हालतमें जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नहीं कह सकते। इसीसे ऐसे लोगोंके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते हैं—

चिंता ज्वाल शरीर बन दावानल लग जाय।
प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अंतर धुँधुवाय॥
उर अंतर धुँधुवाय जले ज्यों काँचकी भट्टी।
रक्त मांस जर जाय रहे पिंजरकी टट्टी॥
कहैं गिरधर कविराय सुनो रे मेरे मिंता।
ये नर कैसे जियें जाहि तन व्यापी चिंता॥

---

* चिंता चितासमाख्याता बिन्दुमात्रविशेषता।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता॥

बहुत ही हैरान और परेशान है, उसको किसी भी चीजमें आनंद मालूम नहीं होता और न किसीका बोल सुहाता है, वह अलग एक चारपाईपर पड़ा रहता है, मूँगकी दालका पानी भी उसको हजम नहीं होता—नहीं पचता—दूसरोंको नानाप्रकारके भोजन और तरह तरहकी चीजें खाते पीते देखकर वह झुरता है, अपने भाग्यको कोसता है, और जब उसे संसारसे अपने जल्दी उठ जाने और उस सपूर्ण विभूतिके वियोगका ख़याल आ जाता है, तो उसकी वेदना और तड़पका ठिकाना नहीं रहता, वह शोकके सागरमें डूब जाता है, और तब उसकी वह सारी विभूति मिलकर भी उसे उस दुःखसे निकालनेमें जरा भी समर्थ नहीं होती अब एक तीसरे ऐसे शख्सको भी लीजिये जिसके पास उपर्युक्त सपूर्ण विभूतिके साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्यकी—तन्दुरस्तीकी—भी ख़ास सम्पत्ति मौजूद है और जो खूब हट्टा कट्टा, हृष्ट पुष्ट तथा बलवान् और ताक़तवर बना हुआ है। उसे तो आप जरूर कहेंगे कि वह बड़ा सुखिया है। परन्तु उसके पीछे फौजदारीका एक जबरदस्त मुक़द्दमा लगा हुआ है, जिसकी वजहसे उसकी जान अजाबमें अथवा सङ्कटापन्न है। वह रात दिन उसीके फिक्रमें डूबा रहता है। चलते फिरते, खाते पीते और सोते जागते उसीकी एक चिंता और उसीका एक धुन उसके सिरपर सवार है, उसकी मौजूदगीमें अपना सब ठाट बाट और साज सामान उसे फीका फीका नजर आता है, रसोईमें छत्तीस प्रकारके भोजन तय्यार हैं और स्त्री बड़ी विनय-भक्तिके साथ लघुपुत्र सहित खड़ी हुई प्रेमभरे शब्दोंमें प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ! कुछ थोड़ासा भोजन तो जरूर कर लीजिये' परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमें कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नहीं होता, वह बड़ी उपेक्षा—बेरुख़ी—अथवा झुंझलाहटके साथ उत्तर देता है कि 'तुम्हें भोजनकी पड़ी, यहाँ जानकी बन रही है, दस बज गये, रेलका वक्त हो गया, मुकद्दमेकी पेशीपर जाना है।' इससे साफ़

जाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—तिबयत वगैरहके गालिब आनेपर—बाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूति और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नहीं बना सकती—वह प्राय दुःखोंमें ही घिरा रहता है *। अनेक कवियोंने तो चिंताको चिताके समान बतलाया है। दोनोंमें भेद भी क्या है? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है। उर्दूमें लिखिये तो चिंतापर चितासे एक नुक्ता ( ) ज्यादा आएगा और हिन्दीमें लिखनेसे एक बिन्दी अधिक लगानी होगी। परन्तु इस नुक्ते या बिन्दीने गजब ढा दिया! चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिंता जीवितको ही भस्म कर देती है!! जिस शरीररूपी वनमें यह चिंता ज्वाला दावानलकी तरहसे फैल जाती है, उसमें प्रकट रूपसे धुआ नजर न आते हुए भी भीतरही भीतर धुआँधार रहता है, काँचकी भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त मास सब जल जाता है, सिर्फ हाडोंका पंजर ही पंजर चमड़ेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है। ऐसी हालतमें जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नहीं कह सकते। इसीसे ऐसे लोगोंके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते हैं—

चिंता ज्वाल शरीर बन दावानल लग जाय।
प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अन्तर धुँधवाय॥
उर अन्तर धुँधवाय जले ज्यों काँचकी भट्टी।
रक्त मांस जर जाय रहे पिंजरकी टट्टी॥
कहे गिरधर कविराय सुनो र मेर मिता।
वे नर कैसे जियें जाहि तन व्यापी चिंता॥

---

* चिन्ता चितासमाख्याता बिन्दुमात्रविशेषता।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता॥

निःसन्देह, चिंता ऐसी ही बुरी चीज़ है, वह मनुष्यको खा जाती है और उसकी जननी जरूरियातकी अत्यन्तता—आवश्यकताओंकी वृद्धि—है। जितनी जितनी जरूरियात बढ़ती जाती हैं उतनी उतनी चिंताएँ पैदा होती जाती हैं। इसीसे भगवान महावीर और दूसरे धर्माचार्योंने गृहस्थोंके लिये जरूरियातको घटानेकी—परिग्रहको कम करके सन्तोष धारण करनेकी—शान बही है, परिग्रहको पाप लिखा है और अधिक आरम्भी तथा अधिक परिग्रहीको नरकका अधिकारी अथवा मेहमान बतलाया है। अतः सुखप्राप्तिके लिये जरूरियातको कम करना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है, इसे बुद्धिमान पुरुष स्वयं समझ सकते हैं।

वास्तवमें सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहींपर बिकती हो, किसी दुकान, हाट या बाज़ारमें किसी भी कीमतपर खरीदी जा सके, किसीकी खुशामद, सिफ़ारिश या प्रेरणासे मिल सके या बदला करके लाई जा सके, बल्कि वह आत्माका निज गुण है—आत्मासे बाहर उसकी कहीं भी सत्ता नहीं है। संसारी जीव आत्माको भूल रहे हैं और इसलिये अपनी आत्मामें सुखकी जो अनुपम तथा अपार निधि गड़ी हुई है, उसे नहीं पहचानते और न उसकी प्राप्तिके लिये कोई यथेष्ट उपाय ही करते हैं। वे अपनी आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें सुखकी कल्पना किये हुए हैं, उनको ही अपने सुखका एक आधार मान बैठे हैं—उन्हें ही सब कुछ समझ रहे हैं—और इसलिये उन्हींके पीछे भटकते और उन्हींकी प्राप्तिके लिये रातदिन हैरान-परेशान और दत्तावधान हुए मारे मारे फिरते हैं। परन्तु उनको यह खबर नहीं कि पर-पदार्थ तीन कालमें भी अपना नहीं हो सकता और न जड़ कभी चेतन बन सकता है, उसे अपना समझकर सुखकी कल्पना कर लेना भूल है, उसके संयोगके साथ वियोग लगा हुआ है—जिसका कभी संयोग होता है उसका एक न एक दिन वियोग जरूर होता है—चाहे वह हमसे पहले बिछुड़ जाय और या हम ही उससे पहले चलते बनें, गरज़ वियोग

जरूर होता है। और जिसके संयोगमें सुख मानलिया जाता है अथवा यों कहिये कि माना हुआ होता है उसके वियोगमें नियमसे दुख उठाना पड़ता है। इसलिये ऐसे सब ही परपदार्थ अन्तको दुखके कारण होते हैं। बीचमें भी किसी चिन्ता आदिके उपस्थित हो जानेपर उनका सारा सुख हवा हो जाता अथवा काफूर बन जाता है। अपनी ही खास स्त्रीकी बाबत यदि यह मालूम हो जाय कि वह अब बदचलन या दुःशीला हो गई है—गुप्त व्यभिचार करती है—तो उसके साथ मिलने जुलनेका आनन्द जाता रहे, एक मित्रकी बाबत यदि यह पता चल जाय कि वह परोक्ष रूपसे अपनेको हानि पहुँचाता है तो मित्रताका सारा मज़ा किरकिरा हो जाय, और यदि एक अच्छे प्यारे सुन्दर तथा सुडौल बने हुए मकानकी बाबत बादको यह बात दिलमें बैठ जाय कि वह मनहूस है—अशुभ अथवा अमांगलिक है—तो वह उसी वक़्तसे अपनेको काटने लगे और उसमें रहना भारी पड़ जाय। दूसरे चेतन अचेतन पदार्थोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है।

इसी तरहपर उनको यह भी खबर नहीं कि बाह्य पदार्थोंमें जो सुख का अनुभव होता है वह खास उन पदार्थोंका अथवा उनसे उत्पन्न होने वाला सुख नहीं, बल्कि उनकी प्राप्तिके लिये हमारे अन्तःकरणमें जो एक प्रकारकी तड़प, वेदना, या तृष्णा हो रही थी उसकी यत्किंचित् शांतिका सुख है। यदि वैसा कोई वेदना, तड़प या तृष्णा न हो, तो उन पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ भी सुखका अनुभव नहीं किया जा सकता, और इसी लिये वह सुखकी अनुभूति प्रायः वेदनाके अनुकूल होती है—वेदनाकी कमी बेशी आदिकी अवस्थाके अनुसार बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धपर आधार रखती है। यदि ऐसा न माना जाय, बल्कि उन बाह्य पदार्थोंको ही स्वयं सुखका मूलकारण समझ लिया जाय तो चार रोटी खानेवालेको आठ रोटी खा लेनेसे डबल सुख होना चाहिये और जाड़ों के लिहाफ़ वग़ैरह भारी भारी गर्म कपड़ोंको सख्त

पहननेसे जाड़ो जैसा आनन्द मिलना चाहिये। परन्तु मामला इससे बिलकुल उलटा है—आठ रोटी खा लेनेसे उस आदमीकी जानपर आ बने, पेट फूल जाय, दर्द या क़ै (वमन) होने लगे अथवा चूर्ण गोलीकी जरूरत खड़ी हो जाय, और जाडोंके वे भारी भारी गर्म कपड़े गर्मियोंमें पहनने ओढ़नेसे चित्त एकदम घबरा उठे और सिर में चक्कर आने लगे। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थों में स्वय कोई सुख नहीं रक्खा है और न वेदनाके पैदा होते रहने और उसका इलाज या उपचार करते रहनेमें ही कोई सुख है, बल्कि उसके पैदा न होने और इलाज तथा उपचारकी जरूरत न पड़नेमें ही सुख है।

वास्तव मे यदि ध्यानसे देखा जाय तो पर-पदार्थों मे सुख है ही नहीं, उनमें सुखका आधार एकमात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुखको सुख नहीं कह सकते, वह सुखाभास है—सुखसा दिखलाई देता है—मृगतृष्णा है। और इसलिये पर-पदार्थोंमें सुख कल्पित करनेवालो की हालत ठीक उन लोगों जैसी है जो एक पर्वतकी दो चोटियोंके मध्य-स्थित सरोवरमें किसी बहुमूल्य हारके पीछे गोते लगाते और लगाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानीमें वह हार दिखलाई तो जरूर पड़ता था लेकिन पकड़नेपर इधरसे उधर उचक जाता था और हाथमें नहीं आता था, और इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है? इतनेमें एक जानकार शख्सने आकर उन्हें बतलाया था कि 'हार उस सरोवरमें नहीं है, और इसलिये कोटि वर्ष-पर्यन्त बराबर गोते लगाते रहने पर भी तुम उसे नहीं पा सकते, वह इस सरोवरके बहुत ऊपर पर्वतकी दोनों चोटियोंके अग्रभागसे बँधे हुए एक तारके बीचमें लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्बसे जलको प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ़कर वहाँ तक पहुँचनेकी कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे,

अन्यथा नहीं—तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहनकी क्रिया व्यर्थ है।'

इसमें सन्देह नहीं कि जो चीज़ जहाँ मौजूद ही नहीं वह वहाँ पर कितनी भी ढूंढ खोज क्यों न की जाय कदापि नहीं मिल सकती। कोई चीज ढूंढने अथवा तलाश करनेपर वहींसे मिला करती है जहाँपर वह मौजूद होती है। जहाँ उसका अस्तित्व ही नहीं वहांसे वह कैसे मिल सकती है? सुख चूंकि आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें नहीं है इसलिये उन पदार्थोंमें उसकी तलाश फिजूल है, उसे अपनी आत्मामें ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलोंके नीचे दबा हुआ है, हमारी कैसी परिणतिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है। परन्तु हम अपनी आत्मा की सुध भूल हुए हैं, उसकी सुखरूपी निधिसे बिलकुल ही अपरिचित और अनभिज्ञ हैं और इसलिये सुखकी तलाश आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थों में—विजातीय वस्तुओंमें—करते हैं। सुखकी प्राप्तिके लिये उन्हीं के पीछे पड़े हुए हैं—वहाँ से भी सुख मिलेगा, वह भी हमको सुख दे सकेगा, इसी प्रकारके विचारोंसे बँधे हुए हम उन्हीं पदार्थोंका संग्रह बढ़ाते जाते हैं, उन्हींकी ज़रूरियातको अपने जीवनके साथ चिपटाते रहते हैं और इस तरहपर खुद ही अपनेको दुःखोंके जालमें फँसाते और दुःखी होते हैं, यह अजब तमाशा है॥

अपनी भूल।

एक तोता नलिनीपर आकर बैठता है और उसकी नलीके घूम जाने से उलटा होकर उसे पकड़े हुए लटका रहता है, उड़नेकी खुली शक्ति होते हुए भी नहीं उड़ता, इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि वह उस वक्त अपनी आकाशगतिको भूल जाता है, उड़नेकी शक्तिका उसे ध्यान नहीं रहता और यह समझने

कि मुझे इस नली ने पकड रक्खा है। यद्यपि उस नलीने उसे जरा भी नहीं पकडा, उसने खुद ही अपने पजोंसे उसे दबा रक्खा है, वह चाहे तो अपने पजोंको खोलकर उस नलीको छोड़ सकता है और खुशीके साथ आकाशमें उड सकता है। परन्तु अपनी भूल और नासमझीकी वजहसे वह वैसा न करके उलटा लटका रहता है और फिर शिकारीके हाथमें पड़कर तरह तरहके दुःख तथा कष्ट उठाता है। ठीक ऐसी ही हालत हमारी है, हम अपनी आत्मा के स्वरूप और उसके सुख-स्वभावको भूले हुए हैं और यह गलत समझे हुए हैं कि हम परिग्रहो अथवा जरूरियातन, जिनको हमने ही बढ़ाया और हमने ही अपने पीछे लगाया है, हमारा पिण्ड पकड रक्खा है और ये अब हमको छोड़ते नहीं हैं। इसीसे उस तोतेकी तरह हम भी नाना प्रकारके बधमबन्धनमें पड़कर दुःखोंमें अपना आत्मसमरण कर रहे हैं—अपनेको दुःखोंकी भेंट चढ़ा रहे हैं। हमारी इस दशाका ध्यान में रखते हुए ही कविवर प० दौलतरामजीने यह वाक्य कहा है—

> अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो।
> ज्यों शुक नभचाल विसरि, नलिनो लटकायो॥

यह वाक्य हमपर बिलकुल चरितार्थ होता है। यदि अब भी हम अपनी भूलको सुधारलें और अपने सुख दुःखके साधनों तथा कारणोंको ठीक तौरपर समझ जायें तो हम आज भी अपनी जरूरियातको घटा कर, परिग्रहको कम करके, और रीतिरिवाजको बदलकर बहुत कुछ सुखी हो सकते हैं। यह सब हमारे ही हाथका खेल है और उसे करने के लिये हम सब प्रकारसे समर्थ हैं—सिर्फ भूलका ज्ञान और उसके सुधारके लिये मनोबलकी जरूरत है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि बाह्य पदार्थों के सम्बन्धसे यदि हम सुख मिल सकता है, तो वह तभी मिल सकता है

जब कि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ हर वक्त हमारी इच्छाके अनुसार प्रवर्ता करें—उनके सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा अलटन पलटन और उन की गतिस्थितिको लिये हुए समस्त क्रियाएँ हमारी मर्जी तथा रुचिके अनुकूल हुआ करें। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि उन पदार्थों का परिणमन—उनमें किसी परिवर्तन अथवा क्रिया-विक्रियादिकका होना—स्वय उनके अधीन है—उनके स्वभावके आश्रित है—हमारे अधीन नहीं। जो लोग उनको सब तरहसे अपने अधीन चाहते हैं और खाली इस प्रकारकी कामनाएँ किया करते हैं कि—इस वक्त वर्षा हो जाय, क्योंकि सख्त गर्मी पड रही है या हमारा खेत सूखा जा रहा है, इस समय वर्षा न होवे या बन्द हो जाय, क्योंकि हम सफर (यात्रा) में हैं या सफरको जा रहे हैं, हमारे मकान टपके नहीं, उनमें वर्षाकी बौछार न आवे, जाडोंमें ठंडी और गर्मियोंमें गर्म हवा न घुसे, वे ज्योंके त्यों बने रहें, टूटें फूटें भी नहीं और न मैले कुचैले ही हों, हमारे शरीर में कोई रोग पैदा न हो कोई बीमारी हमारे पास न आए हम खूब हृष्ट पुष्ट, तन्दुरस्त, बलवान् और जवान बने रहें, हमारे बाल भी सफेद न होने पाएँ, हमारे कपड़े जैसे तैसे उजले और नए बने रहें, वे फटें भी नहीं और न उनपर कहीं कोई दाग धब्बा या बुरे आदिका निशान ही होने पावे, हमारी किसी चीजको नुकसान न पहुँचे, किसीका रंग रूप भी न बिगडे और न कोई घिसे या घिसावे, हमको किसी भी इष्ट वस्तु का वियोग न सहना पडे, हमारे कुटुम्बके सब लोग तथा मित्रादिक कुशल क्षेमसे रहें, हमें उनमेंसे एकका भी दुख न देखना पडे, हमारा कोई विरोधी या शत्रु पैदा न हो, किसी अनिष्टका हमारे साथ सयोग न होसके, हमारी पैदा की हुई इज्जत प्रतिष्ठा या बातमें किसी तरह भी फर्क न आवे—वह ज्यों की त्यों बनी रहे—और हम सब प्रकारके आनद तथा सुख भोग करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें, वगैरह वगैरह । ऐसे लोग फिजूल हैरान तथा परेशान होते हैं और

अपनेको दुखी बनाते हैं, क्योंकि उन कामनाओंका पूरा होना सब तरहसे उनके अधीन नहीं होता, वे जिन सुखोंको चाहते हैं वे सब बहुत कुछ पराश्रित और पराधीन हैं, और पराधीनतामें कहीं भी सुख नहीं है। सुखका सच्चा उपाय 'स्वाधीन-वृत्ति' है। जितनी जितनी स्वाधीनता—आज़ादी और खुदमुख्तारी—बढ़ती जाती है, दूसरेकी बीचमें ज़रूरत या अपेक्षा नहीं रहती, उतनी उतनी ही हमारे सुखमें बढ़वारी होती जाती है, और जितनी जितनी पराधीनता—गुलामी, मुहताजी और बेबसी—उन्नति करती जाती है उतनी उतनी ही हमारे दुःखमें वृद्धि होती जाती है। फिजूलकी ज़रूरियातको बढ़ानेसे पराधीनता बढ़ती है और उससे हमारा दुख बढ़ जाता है। अतः हमको, जहाँ तक बनसके, अपनी ज़रूरियातको बढ़ाना नहीं चाहिये बल्कि घटाना चाहिये और ऐसी तो किसी भी ज़रूरतका अपनेको आदी, व्यसनी या वशवर्ती न बनाना चाहिये जो फ़िजूल हो या जिससे वास्तवमें कोई लाभ न पहुँचता हो। ऐसा होनेपर हमारा दुख घट जायगा और हमें सुख आसानीसे मिल सकेगा।

एक प्रश्न।

यहाँपर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि ज़रूरियात तो ज़रूरियात ही होती हैं उनमें फ़िजूलियात क्या, जिनको छोड़ा या घटाया जावे? अतः इसकी भी कुछ व्याख्या कर देनी ज़रूरी और मुनासिब मालूम होती है। यह ठीक है कि ज़रूरियात ज़रूरियात ही होती हैं परन्तु बहुतसी ज़रूरियात ऐसी भी होती हैं जो फ़िजूल पैदा करली जाती हैं या जिनको पूरा न करनेसे वस्तुतः कोई हानि नहीं पहुँचती। ऐसी सब ज़रूरियात फ़िजूलियातमें दाख़िल हैं और वे आसानीसे छोड़ी या घटाई जा सकती हैं। कल्पना कीजिये, एक मनुष्य क्रोधकी हालतमें अपने पेटमें छुरी या सिरमें ईंट मारकर घाव कर लेता है और फिर

उस पर मर्हम पट्टी करने बैठता है, घावको वह [illegible] कर [illegible] सकती है परन्तु यह जरूर कहना होगा कि [illegible] [illegible] [illegible] को फिजूल अपने आप पैदा किया है और वह [illegible] [illegible] [illegible] आँसे वाच (विमुख) रह सकता है। एक [illegible] [illegible] [illegible] पीकर अपनी विषयवासनाको भडकाता अथवा [illegible] [illegible] है और इससे उसे बेवक्त ही एक स्त्रीकी जरूरत पैदा होती है यह [illegible] भी फिजूलकी जरूरत है—स्वाभाविक अथवा [illegible] नहीं है—और उसको पूरा न करनेसे कोई खास नुकसान नहीं [illegible] । इस [illegible] न मालूम कितनी जरूरियातको हम पैदा करते रहते हैं और उनको पूरा करनेमें अपनी शक्तिका व्यर्थ ही नाश करते [illegible] [illegible] [illegible] हैं।

एक छोटेसे बच्चेको, जिसे भले बुरेकी कुछ भी [illegible] अथवा तमीज नहीं है और जिसे चाहे जिस ढांचेमें ढाला जा सकता है, उसके माता पिता यदि बढिया बढिया रेशम, [illegible], [illegible], मखमल, और सुनहरी कामके वस्त्र पहनाते हैं और इस [illegible] उसमें शौकीनी तथा विलासिताका भाव भरते हैं, जिससे [illegible] [illegible] [illegible] मामूली सादे वस्त्र पहनना पसन्द नहीं करता और [illegible] [illegible] [illegible] उसको पूरा करनेके लिये फिर वैसे ही या उससे भी [illegible] [illegible] बहुमूल्य वस्त्रोंकी जरूरत खडी होती है तो क्या यह [illegible] जरूरत पैदा करना नहीं है ? अवश्य है। और यदि उसे पैदा न करके या पूरा न करके उस बच्चेको सादा कपड़े ही पहननेको दिये जाँय तो इसमें उस बच्चेकी तन्दुरस्ती या स्वास्थ्य वगैरहको कोई नुकसान नहीं पहुँच सकता।

खाना पीना जीवित रहनेके लिये हमारी जरूर है परन्तु बढिया शौकीनी, चटपटे मसालेदार, अधिक [illegible], अधिक भारी, देरसे पचने वाला और खूब उत्तेजक खाना पीना, भूखसे अधिक खाना और हर वक्त या बेवक्त खाना उसके लिये कोई जरूरी नहीं है। [illegible] [illegible] पीने तथा आटेके स्थानमें मैदेका [illegible] व्यवहार

पेट खराब हो जाय, पाचनशक्ति जाती रहे, स्वास्थ्य बिगड़ जाय और हर वक्त चूर्ण गोली या दवाईके सेवनकी अथवा हकीम डाक्टर या वैद्यके पास जानेकी जरूरत रहने लगे तो क्या इस व्यर्थकी जरूरत की कभी पीठ ठोकी जा सकती है ? कदापि नहीं। उसे जहाँ तक बन सके शीघ्र ही भोजनमें सुधार और संयमसे काम लेकर दूर कर देना चाहिये। हमारे स्वास्थ्यके खराबीका अधिकतर आधार इस खाने पीनेकी गड़बड़ी, असावधानी या जिह्वाकी लोलुपता, शौकीनी और संयमकी कमीपर ही है, और इसमें हमारी शक्तियोंका बहुत ही दुरुपयोग हो रहा है और हम अपने बहुतसे कर्तव्योंकी पूर्तिसे वंचित रहते हैं।

पहनने ओढ़नेका भी ऐसा ही हाल है। कपड़ा तन बदनको ढकने और सर्दी गर्मीसे बचनेके लिये होता है और उसकी यह गरज बहुत सादा तरीकोंपर अच्छी तरहसे पूरी की जा सकती है। कोई पचास साठ वर्ष पहले हमारी माताएँ और बहनें अपने काते हुए सूतके कपड़े तय्यार कराती थीं और वे गाढ़ेके कपड़े घरभर के लिये काफी होजाते थे। करीब चालीस पचास रुपयेकी लागतमें एक अच्छे कुटुम्बका खुशी से पूरा पट जाता था। स्त्रियां अपने दावन (लहँगे) ओढ़ने कसूमें आदि के प्राकृतिक रंगमें ही रँग लेती थीं और प्रायः वैसे ही दावन ओढ़ने विवाह-शादियोंमें दुलहनों (बहुओं) को चढ़ाए जाते थे। परन्तु आज नुमाइशका भूत या खब्त हमारे सिरपर कुछ ऐसा सवार है कि उसके पीछे हम हर साल लाखों और करोड़ों रुपये फिजूल खर्च कर डालते हैं, विदेशी कपड़ाकी चमक दमक और रंग ढंगने हमारी आँखें खराब कर रक्खी हैं और हमें अपने पीछे पागल सा बना रक्खा है। कपड़ोंकी भी कोई गिनती नहीं और न उनकी लागतका ही कोई तखमीना, अन्दाजा अथवा परिमाण पाया जाता है। भला एक छोटेसे बेखबर बच्चेको बीस, तीस, पचास या सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्यकी पोशाक पहना देनेसे क्या नतीजा है, जिसको अपने तन बदनकी कुछभी होश नहीं जो

की तौयल तैय्यार कराई गई है। एक लावन, ओढ़ने और आँगीकी लागतका जब यह हाल है तब विवाहके कुल खर्चोंका तख़मीना, जिसमें ज़ेवर भी शामिल है, कितने हज़ार होगा, इसे पाठक स्वयंही समझ सकते हैं। अब तो टोपियोंके साथ चाँदीके बर्तन वगैरहके अतिरिक्त बड़ा ग्रामोफोन बाजा और बर्फ बनानेकी मशीनतक भी रैन मिलौनीके तौर पर दी जाने लगी हैं। इससे ज़ाहिर है कि विवाह शादियोंके खर्च दिनपर दिन बढ़ते जाते हैं और ये सब फ़िज़ूल खर्च हमारे मुल्कके बढ़ाए हुए हैं। समझमें नहीं आता, जब विवाहका असली गरज़ और उसका तमाम काम बहुत थोड़ेसे रुपयोंमें भी पूरा हो सकता है, तब उसके लिये हज़ारों रुपये खर्च करना कौन बुद्धिमत्ता और अक़लमन्दीकी बात है? और यह फ़िज़ूलख़र्ची नहीं तो और क्या है? क्या एक विवाहमें अधिक खर्च कर देनेसे घरमें एककी जगह दो बहुएँ आजायगी या लड़कीका सुहाग (सौभाग्य) कुछ बढ़ जायगा? और क्या स्त्रियां यदि बहुमूल्य वस्त्राभूषण न पहन कर सादा लिबासमें रहने लगें तो इससे उनका स्त्रीपना ही नष्ट भ्रष्ट अथवा रद्द और असमान्य हो जायगा? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर फ़िज़ूल ज़्यादा खर्च करके अपनको दीन, हीन तथा मुहताज बनाने और मुसीबतोंके जालमें फँसानेकी क्या ज़रूरत है? इन विवाह शादियोंके फ़िज़ूल खर्चोंने ही लड़कियोंको माता पिताके लिये भारी बना दिया है और ये अवसर उनको मरता मारते रहते हैं! यह कितने दुःख और अफ़सोसकी बात है!!

इसी तरहकी और भी मरने, जीने, मिलने, बिछुड़ने, उत्सव, त्यौहार, बनावट, सजावट, खेल, तमाशे, शौक़ीनी, विलासता और मनोविनोद आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी अहरियात फ़िज़ूल हैं, जिनको हमने ख़्वाहमख़्वाह अपने पीछे लगा रक्खा है और यदि हम

चाहें तो उनको ख़ुशीसे छोड सकते या कम कर सकते हैं। इन सब फ़िज़ूलकी ज़रूरियातने ही हमारे दुःखको बढा रक्खा है, हमारे जीवन को बहुत ही खर्चीला (expensive) या अधिक धनपर आधार रखने वाला बनाकर हमको अच्छी तरहसे तबाह और बर्बाद कर रक्खा है, इन्हींकी बदौलत हमारी आदत और प्रकृति बिगड़ गई है और हम धर्म या ईश्वरके उपासक न रहकर ख़ाली धनके उपासक बन गये हैं, और इन्हींके कृपाकटाक्षका यह फल है जो हमारा धर्म-कर्म सब उड गया, हममें वे सब दुर्गुण अथवा पापाचरण घुस गये जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और हम अपने पूर्वजोंके आदर्शसे बिलकुल ही गिर गये हैं।

आदर्शसे गिर जाना।

हमारे पूर्वज पहले कितने सादा चालचलनके होते थे और कितना सादा जीवन व्यतीत करते थे, यह बात किसीसे भी गुप्त अथवा छिपी नहीं है। उनका खाना पीना, पहनना ओढना, शयन आसन और रहन सहनका सब सामान सादा तथा परिमित था, वे व्यर्थकी टीपटाप, नुमायश अथवा लोकदिखावेको पसन्द नहीं करते थे और न अपनी शक्तिको व्यर्थ खोना उन्हें अच्छा मालूम होता था। इसीसे विकार उन्हें नहीं सताते थे, भय-विकार उनपर अपना अधिकार जमाने नहीं पाते थे, और वे ख़ूब हृष्टपुष्ट, निरोग तन्दुरुस्त, बलवान्, बहादुर, पराक्रमी, निर्भयप्रकृति, प्रसन्नचित्त हँसमुख, उदारविचार, वचनके सच्चे, प्रणके पक्के, धर्मपर स्थिर और अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें बहुत कुछ सावधान तथा कटिबद्ध होते थे। उनके समयमें यदि कोई किसीसे कर्ज लेता था तो उसके लिए आम तौर पर किसी रुक्के चिट्ठी, प्रॉमेसरी नोट, तमस्सुक या रजिस्टरीकी कोई ज़रूरत नहीं होती थी, एक अनपढ अथवा अशिक्षित व्यक्तिका महज़ क़लम को छू देना या उससे कोई टेढ़ी बाँकी लकीर सी खींच देना भी रजि-

म्टरीसे ज्यादा असर रखता था, उस वक्तके कर्जोंमें तमादी आरिज नहीं होती थी—कालकी कोई मर्यादा उन्हें अदेय नहीं ठहराती थी—किसीका लेकर नहीं भी दिया करते यह बात मिसलाई ही नहीं जाती थी। यदि किसीसे कर्जा देते अथवा अपना ऋण चुकाते नहीं बनता था या उसके भुगतानमें देर हो जाती थी और इसपर साहूकार उससे यह कहता था कि 'भाई! तुमसे कर्जा देते अथवा ऋण चुकाते नहीं बनता है, अतः मैं हिसाब-वहीमें तुम्हारे नामको छेक दूँ, मिटिया दूँ और अपनी रकमको बट्टेखाते डालदूँ, तो इसको सुन कर वह कर्जदार (ऋणी पुरुष) काँप जाता था और हाथ जोड़ कर कहने लगता था कि 'नहीं' ऐसा कभी मत करना, जब तक मेरे दममें दम और बदनमें जान प्राण बाकी हैं, मैंने जिन आँखों आपका कर्जा लिया है उन्हीं आँखों उसे भुगताऊँगा, कौड़ी कौड़ी अदा करूँगा, देर जरूर है मगर अन्धेर नहीं, और यदि अपने जीवनमें किसी तरहपर मैं अदा न कर सका तो मेरे बेटे, पोते, पड़पोते, यहाँ तक कि मेरी सात पीढ़ी उसको अदा करेगी, आप उसकी चिन्ता न करें। जब आपसे लिया गया है तब वह आपको दिया क्या न जाय?' कितने मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उद्गार हैं—दिलको हिला देनेवाले कलाम अथवा वचन हैं—और इनसे किस दर्जे भलाई तथा ईमानदारीका प्रकाश होता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सचमुच ही वह जमाना भी कितना अच्छा और सच्चा था और उसकी बातोंसे कितना सुख तथा शांतिरस टपकता है।

परन्तु आज नक्शा बिलकुल ही बदला हुआ है। आज उस कर्ज तथा दूसरे ठहरावोंके लिये दस्तावेजात लिखाई जाती हैं, दस्तखत (हस्ताक्षर) होते हैं, अंगूठे लगते हैं, रजिस्ट्री कराई जाती है और रजिस्ट्रीपर रुपया दिया जाता है, फिर भी बादको ऐसी झूठी उजरदारियाँ (आपत्तियाँ) होती हैं कि 'दस्तावेज जरूर लिखी, दस्तखत किये या

अँगूठा लगाया और रजिस्टरीपर रुपया भी वसूल पाया, लेकिन दस्तावेज फ़र्जी थी, किसी अनुचित दबावके कारण लिखी गई थी, रुपया वादीको वापिस दे दिया गया या किसी योग्य कार्यमें खर्च नहीं हुआ, और इस लिये मुद्दई (वादी) उसके पानेका या दस्तावेजके आधारपर किसी दूसरे हक्के दिलाए जानेका मुस्तहक़ (अधिकारी) नहीं है। ओह! कितना अधिक पतन और बेईमानीका कितना दौर-दौरा है!! उस वक्त अदालतोंके दर्वाजे शायद ही कभी खटखटाए जाते थे, पचायतोंका बल बढ़ा हुआ था, यदि कोई मामला होता था तो वह प्राय घरके घरमें या अपने ही गाँवमें आसानीसे निपट जाया करता था—जरा भी बढ़ने नहीं पाता था। परन्तु आज बात बातमें लोग अदालतोंमें दौड़े जाते हैं, उन्हींकी एक शरण लेते हैं, बस्ता बगलमें दबाए उन्हींकी परिक्रमा किया करते हैं, उनके पहेपुजारियों—वकील-बैरिष्टर-मुख्तार-अहलकारों—के आगे बुरी तरहसे गिड़गिड़ाते हैं—सो भी प्राय न्यायके लिये नहीं, बल्कि किसी तरहसे बात रह जाय या उनकी बेईमानीको मदद मिल जाय—और यहीं अदालती मन्दिरोंमें वे अपने धर्मकर्मकी अच्छी खासी बलि दे जाते हैं। अदालतोंके न्यायका कोई ठिकाना नहीं, उन्हें प्राय 'बुढ़ा मरो या जवान अपनी हत्या अथवा भुगतानसे काम' होता है, गरीबों और थोड़े पैसे या बे-आदमियोंवालोंकी वहाँ कोई पहुँच अथवा पूछ नहीं होती, एक अदालतके फैसलेको दूसरी, दूसरीके निश्चयको तीसरी और तीसरीके हुक्मको चौथी अदालत तोड़ देती है, और कभी कभी एक ही अदालतका एक हाकिम दूसरे हाकिमके हुक्मको या खुद अपने हुक्मको भी तोड़ देता अथवा रद्द कर देता है। इस तरह न्यायके नाम पर बड़ा ही अजीब नाटक होता है। पचायतोंका कोई बल रहा नहीं, पच लोग अपनी बेईमानी और एक दूसरेकी बेजा तरफदारीकी बदौलत अपनी सारी प्रतिष्ठा, पद्धति और शक्तिको खो बैठे हैं, उनपर लोगोंका विश्वास नहीं रहा, इससे चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है।

लोग फिर फिर कर अन्यायियोंकी ही शरणमें जाते हैं और अपनेको नष्ट तथा बर्बाद करनेके लिये मजबूर होते हैं। मुकद्दमेबाजीका बेहद खर्चा बढ़ा हुआ है—तीसरी चौथी अदालतसे हारनेवाला प्राय नंगा हो जाता है और जीतनेवालेके पास एक लँगोटीसही शेष रह जाती है। इस मे न्याय यदि कभी मिलता भी है तो वह बहुत ही महँगा पड़ता है।

लोग कहते हैं कि आजकल जमाना उन्नतिका है। परन्तु मुझे तो इन हालों वह कुछ उन्नतिका जमाना मालूम नहीं होता, बल्कि खासा अवनतिका जान पड़ता है। जब हमारी आत्मिक शक्ति, शारीरिक बल, नीति, सभ्यता, शिक्षा, धर्मकर्म और सुखशान्तिका बराबर दिवाला निकलता चला जाता है तब इस जमानेको उन्नतिका जमाना कैसे कह सकते हैं? उन्नतिका जमाना तो तब होता जब इन बातोंमें कोई आदर्श उन्नति नजर आती। परन्तु आदर्श उन्नति तो दूर, उलटी अवनति ही अवनति दिखलाई दे रही है। और हम इन सब बातोंमें अपने पूर्वपुरुषोंसे बहुत ही ज्यादा पिछड़े हुए हैं और पिछड़ते जाते हैं। हमने अपनी जरूरियातको बढ़ाकर फिजूल अपने पैरमें आप कुल्हाड़ी मार रक्खी है और व्यर्थकी मुसीबत अपने ऊपर ले रक्खी है। इन जरूरियातको पूरा करनेकी धुन, फिक्र और चक्करमें हम अपनी आत्माको, तन बदनकी और धर्म-कर्मकी सारी सुधि भूले हुए हैं और हमारी वह सब हालत हो रही है जिसका लेखके आरंभ में ही कुछ चित्र खींचकर पाठकोंके सामने रक्खा गया है। हमारे सामने हरदम रुपये पैसे या टकेका ही एक सवाल खड़ा रहता है, रात दिन उसीका चक्कर चलता है, उसीकी पूर्तिमें एकं रूपसे रत रहना होता है और उसीके पीछे हमारे जीवनकी समाप्ति हो जाती है। जब हमारे पास आमदनी कम और खर्च ज्यादा है और हम अपनी जरूरियातको पूरा करनेके लिये न्याय मार्गसे काफी रुपया पैदा नहीं कर सकते तब उन्हें पूरा करनेके लिये हम छल कपट, फरेब,

वास्तविक सुख तथा शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी।

आशा है, सुखके सच्चे अभिलाषी और मुतलाशी (खोजी) अपनी उस वेदना और तृष्णारूपी अग्निको जो बाह्य पदार्थोंके लिये उनके हृदयमें जल रही है ज्ञान तथा विवेक रूपी जलसे शांत करेंगे, सतोषको अपनाएँगे, सादा जीवन व्यतीत करना सीखेंगे और यह समझकर कि इन फिजूलकी जरूरियातने ही हमारी जान अजाबमें डाल रक्खी है, हमारी मिट्टी खराब कर रक्खी है, ये ही हमारे दु:खोंकी खास कारण हैं और ये ही हमारी उन्नति तथा प्रगतिमें रोड़ा अटकाने वाली अथवा विघ्नस्वरूप हैं, इन्हें मन-वचन कायसे दृढ़ताके साथ दूर करने करानेकी पूरी कोशिश करेंगे। और इसके लिये उन्हें यदि किसी रीति रिवाजको तोड़ना या बदलना भी पड़े, तो खुशीसे पूर्ण मनोबल के साथ खुद ही उसके लिये आगे कदम बढ़ाएँगे—अगुआ बनेंगे—और इस तरहपर अपना एक उदाहरण या नमूना दूसरोंके सामने रख कर उनका मार्ग साफ करेंगे और उन्हें भी वैसा करने करानेकी हिम्मत तथा साहस प्रदान करेंगे। देश और जातिके सुधारका भी इसी पर एक आधार है और इसीके सहारेपर सबका बेड़ा पार है। इत्यलम्।



गयादत्त प्रेस, क्लौथ मारकट देहली में छपा।

हम दुखी क्यों हैं ?



लेखक—
जुगलकिशोर मुख्तार

जैन मित्र मंडल द्वारा प्रकाशित ट्रैक्ट

			मूल्य
१	उपासनातत्त्व—प० जुगलकिशोरजी मुख्तार	हिन्दी	-)॥
२	मेरी भावना „ „	,	मु
३	हम दुखी क्यों हैं „ „	„	-
४	रत्नकरण्ड श्रावकाचार—प० गिरधर शर्माजी	„	-
५	वीरजयन्ती रिपोर्ट मण्डल सन १९२६—मंत्री	„	=
६	„ „ „ १९२७ „	„	=)
७	मुक्ति और उसका साधन—ब्र० शीतलप्रसादजी	„	-)
८	ज्ञान सूर्योदय—बा० सूरजभानजी वकील	„	≡)
९	वीर जयन्ती रिपोर्ट सन १९२९—मंत्री	„	।)
१०	जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन—श्री० अयोध्याप्रसादजी	„	।)
११	वीर जयन्ती रिपोर्ट—मंत्री	„	मुफ्त
१२	जैन वीरों का इतिहास—बा० कामताप्रसादजी	,	।)
१३	दिगम्बर मुनि— „	„	-)॥
१४	हमारी शिक्षा पद्धति—प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री	„	=)
१५	दशभक्ति—मुनि श्रुतसागरजी	„	मुफ्त
१६	मौर्यसाम्राज्य के जैन वीर—श्री० अयोध्याप्रसादजी	„	।=)
१७	नित्य प्रार्थना—बा० जोतीप्रसादजी	„	)।
१८	मंडल का संक्षिप्त विवरण—मंत्री	„	मुफ्त
१९	शारदा स्तवन—श्री० कल्याणकुमारजी 'शशि'	„	
२०	भगवान महावीर की अहिंसा और भारत के राज्यों पर उसका प्रभाव—बा० कामताप्रसादजी	„	≡)
२१	वीर वन्दना—मंत्री	„	-)॥

मंत्री जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा देहली।